जीवरत्न ग्रन्थ-माला—१

बुद्ध-शतकम्

(भक्ति-शतकम)

रचयिता

पण्डित रामचन्द्र भारती

अनुवादक

भदन्त आनन्द कौशल्यायन

प्रकाशक

भिक्षु महानाम

सारनाथ, बनारस।

प्रथम संस्करण] [मूल्य ।)

प्रकाशक
भिक्षु महानाम
(सा)रनाथ, बनारस।

बुद्धाब्द २४८८
विक्रमाब्द २००१

मुद्रक
श्रीनाथदास अग्रवाल,
टाइम-टेबुल प्रेस,
बड़ागणेश, बनारस
६१७-४४

दो शब्द

संस्कृत में ही क्या पाली में भी भक्ति-काव्य का एक दम अभाव सा है। यह है भी स्वाभाविक, क्योंकि बौद्धधर्म भावना-प्रधान धर्म न होकर बुद्धि-प्रधान धर्म है। पण्डित रामचन्द्र कृत भक्ति-शतकम् शायद ऐसी एक ही रचना है।

यह कहना कठिन है कि इन सुन्दर प्रसादगुण से ओत-प्रोत, भक्ति-भाव प्रधान पद्यों की रचना कब हुई ? इनके रचयिता पण्डित रामचन्द्र भारती बङ्गाल के बेरवती (ज़ि० वरेन्द्र) नामक गाँव में पैदा हुए थे। आप कात्या-

यन गोत्रीय थे—तर्क, व्याकरण, छन्दस् तथा हिन्दु-पुराण के पण्डित।

जिस समय (पन्द्रहवीं शती) लङ्का में प्रसिद्ध राजा पराक्रमबाहु का राज्य था और संघराज श्री राहुल अपनी विद्वत्ता और असाधारण कवित्वशक्ति के लिए प्रख्यात हो चुके थे उस समय श्री रामचन्द्र भारती लङ्का पहुँचे। श्री० राहुल उस समय कोट्टे (जयवर्धनपुर) परिवेण में रहते थे, यद्यपि उनका स्थायी निवासस्थान तोटगमुव का विजयबाहु परिवेण था।

श्री रामचन्द्र भारती ने लङ्का में श्री राहुल का शिष्यत्व स्वीकार किया। अपनी एक रचना "वृत्तरत्नाकरपञ्चिका" में आप लिखते हैं—

"श्रीमद्राहुलपादतस्त्रिपिटकाचार्य्याद्गुरोर्निर्मलं
बौद्धं शास्त्रमधीत्य यस्तु शरणं रत्नत्रयं शिश्रिये।
यो बौद्धागमचक्रवर्त्तिपदवीं लंकेश्वराल्लब्धवान्
सश्रीमानिहसर्व्वशास्त्रनिपुणोव्याख्यामिमांव्यातनोत्॥"

[जिसनेगुरुवर त्रिपिटकाचार्य्य श्रीमद्राहुल-पाद से निर्मल

बौद्ध शास्त्र पढ़कर त्रिरत्न की शरण ग्रहण की, जिसे लङ्केश्वर से बौद्धागमचक्रवर्ती की पदवी मिली, उस सर्वशास्त्रनिपुण श्रीमान् ने यह व्याख्या रची ।]

संघराज श्री राहुल का शिष्यत्व ग्रहण कर त्रिपिटक का अध्ययन करने के अनन्तर जब उन्हें यह निश्चय हो गया कि एक मात्र बुद्ध-धर्म ही निर्वाण की ओर ले जा सकता है, तो उन्होंने त्रिरत्न की शरण ग्रहण की । ब्राह्मण-धर्म छोड़ बौद्ध-धर्म ग्रहण करने के बाद इस शतक की रचना हुई—जिसकी यथार्थ संख्या १०७ श्लोक हैं, जो भिन्न-भिन्न १२ छन्दों में हैं । यह श्लोक बौद्धधर्म के शिक्षण के साथ-साथ प्रसादगुणपूर्ण संस्कृत काव्यशास्त्र के भी शिक्षक का कार्य्य करते हैं ।

मुझे इस रचना के अनुवाद करने की प्रेरणा महास्थविर धर्मालोकजी ने की थी; और अनुवाद कार्य्य में आचार्य्य सीलक्खन्ध की 'रत्न-माला' नामक व्याख्या से बड़ी सहायता मिली । मैं दोनों महास्थविरों का कृतज्ञ हूँ ।

'बुद्ध-शतकम्' या 'भक्ति-शतकम्' के प्रकाशन का

सारा श्रेय भिक्षु महानामजी को है। अपने त्यागमय-सौजन्य से प्रेरित होकर उन्होंने इस जीव-रत्न ग्रन्थमाला का आरंभ किया, जिसका यह प्रथम पुष्प है। उनका यह पुण्य-कृत्य सभी प्राणियों के लिये मंगलकारी हो।

भवतु सब्बमङ्गलं
रक्खन्तु सब्बदेवता।
सब्बबुद्धानुभावेन
सदा सोत्थि भवन्तु ते॥

मूलगन्धकुटी विहार
सारनाथ

आनन्द कौसल्यायन

नमस्तस्मै भगवतेऽर्हते सम्यक्सम्बुद्धाय

भक्ति-शतकम्

ज्ञानं यस्य समस्तवस्तुविषयं यस्यानवद्यं वचो
यस्मिन् रागलवोऽपि नैव न पुनर्द्वेषो न मोहस्तथा।
यस्याऽहेतुरनन्तसत्त्वसुखदाऽनल्पा कृपामाधुरी
बुद्धो वा गिरिशोऽथवा स भगवांस्तस्मै नमस्कुर्म्महे॥१॥

जिसका ज्ञान सभी वस्तुओं में व्याप्त है; जिसकी वाणी निर्दोष है; जिसमें लेशमात्र भी राग नहीं है और न है द्वेष तथा मोह; जिसकी स्वार्थरहित अनल्प कृपामाधुरी अनन्त प्राणियों के लिये सुखदायक है वह बुद्ध हों अथवा गिरीश हों--कोई भी भगवान् हों---उन्हें हम नमस्कार करते हैं।

देवः शम्भुर्न वैरी हरिरपि न रिपुः केवली नो सपत्नो
नोऽदासीनः स्वयम्भुन च पुनरपरे ते परे वासवाद्याः।
शास्ता बुद्धो न बन्धुर्जगति न जनको नैकगोत्रैकजातिः
किन्त्वेषां वीतरागो भवति सकलविद्यः सुधीभिः स सेव्यः॥२

शम्भु (देव) हमारा वैरी नहीं है, हरि भी हमारा रिपु नहीं है और केवली (तीर्थङ्कर) भी हमारा शत्रु नहीं है। स्वयम्भू (ब्रह्मा) के प्रति भी हमारी उपेक्षा नहीं है और न दूसरे वासव (इन्द्र) आदि ही पराये हैं। (दूसरी ओर) शास्ता बुद्ध भी हमारे बन्धु नहीं हैं, और न इस जगत् में (हमारे) पिता हैं, न एक गोत्र के हैं और न एक जाति के। इन सब देवों में जो वीतराग हैं, जो सर्वज्ञ हैं वही (भगवान् बुद्ध) पण्डितों द्वारा सेवा करने योग्य हैं।

ब्रह्माविद्याभिभूतो दुरधिगममहामाययाऽलिङ्गितोऽसौ
विष्णु रागातिरेकान्निजवपुषि धृता पार्वती शङ्करेण।
वीताविद्यो विमायो जगति स भगवान् वीतरागो मुनीन्द्रः
कः सेव्यो बुद्धिमद्भिर्वदत वदत मे भ्रातरस्तेषु मुक्त्यै॥३॥

ब्रह्मा अविद्या से अभिभूत है, विष्णु ने दुर्बोध महा-माया का आलिङ्गन किया है, और अति रागी होने से शङ्कर ने पार्वती को अपने शरीर में धारण किया है। जगत् में केवल वह भगवान् मुनीन्द्र (बुद्ध) ही ऐसे हैं जो अविद्या से रहित हैं, जो माया से रहित हैं और जो हैं राग से

रहित। तो हे मेरे भाइयो, कहो-कहो मुक्ति के लिए पण्डितों को किसकी उपासना करनी चाहिए ?

ब्राह्मं वैष्णवमैश्वरञ्च बहुधा लब्ध्वा पदं हेतुतः
संसारे वत संसरन्ति पुनरप्येकान्तदुःखास्पदे ।
किन्तैर्देहभृतामपायबहुलैराद्यन्तवद्भिस्पदै-
स्तस्मान्नित्यमनादिमध्यनिधनं बौद्धं पदं प्रार्थ्यताम् ॥४॥

बहुत करके मनुष्य ब्रह्म-पद, विष्णु-पद वा महेश्वर-पद को प्राप्त करके भी (तृष्णा) हेतु के कारण एकान्त दुःखस्वरूप संसार में भटकते हैं । तो ऐसे नरक आदि दुःखों के घर, उत्पत्ति, स्थिति तथा संहार स्वभाव-वाले पदों से प्राणियों को क्या लाभ? उत्पत्ति, स्थिति तथा विनाश रहित जिस निर्वाण-पद का उपदेश भगवान् बुद्ध ने किया है उसी की इच्छा करें ॥ ४ ॥

चिदाकारं सूक्ष्मं विभु विशदमाकाररहितं
निरीहं नीरूपं निरवधि कृपाबीजमजरम् ।
समस्तज्ञं सर्वोपधिरहितमैश्यादमृतदं
जितानङ्गैः सेव्यं भवतु मम तद् वस्तु शरणम् ॥५॥

ज्ञानस्वरूप, सूक्ष्म, सर्वव्यापी, निर्मल, निराकार, तृष्णा-रहित, अरूप, असीम, करुणा का मूल, अजर, सर्वज्ञ, सर्वोपाधिरहित*, श्रेष्ठत्व के कारण निर्वाण-दायक जिसे 'अनङ्ग-विजयी'† ने प्राप्त किया वह वस्तु मुझे शरण दे ॥५॥

अणीयोऽणोः क्लेशाप्रतिहतमनन्तञ्च महतो
महीयो माहात्म्यप्रविजितजगद्भूरिकरुणम् ।
द्विबाहुं निर्बाहुं द्विपदमपदं सत्रिवदनं
द्विनेत्रं निर्णेत्रं सगुणमगुणं तत्तु शरणम् ॥ ६ ॥

सूक्ष्म से सूक्ष्म, महान् से महान्, रागादि क्लेशों से अनभिहत, असीम, माहात्म्य से जगत् को जीतनेवाले, महान् कारुणिक, दो-बाहु और बाहुरहित‡ द्विपद और पद रहित$ त्रिवदन||, द्विनेत्र और नेत्ररहित¶, सगुण और निर्गुण (बुद्ध) मुझे शरण दें ॥ ६ ॥

---

* सकल उपाधियों से रहित । † बुद्ध । ‡ नामरूप-रहित । $ उत्पत्तिस्थानरहित । || विमोक्षमुखम्, अप्रणि-हितविमोक्षमुखम् तथा शून्यताविमोक्षमुखम् (देखें अभि-धम्मत्थसङ्गहो (९–३७) । ¶ शाश्वत उच्छेद दृष्टि-रहित ।

सदानन्दं तथ्यं सरसहृदयं सूक्तिसदनं
सतां सेव्यं सम्यक्समधिगततत्त्वं सममनः ।
स्वतस्सिद्धं साध्यं सकलफलदं सौम्यवदनं
सदीयं सर्वीयं भवतु मम तद्वस्तु शरणम् ॥७॥

सत्पुरुषों को आनन्द देनेवाले, यथार्थज्ञानी, सरसहृदय, सूक्तियों के भण्डार, साधुओं द्वारा सेवित, सम्यक् प्रकार तत्त्वज्ञ, समचित्त, स्वप्रयत्न से ज्ञानप्राप्त, साध्य, सर्वफल-प्रदाता, सौम्याकृति, सत्पुरुषों तथा सब प्राणियों के हितकारी (बुद्ध) मुझे शरण दें ॥ ७ ॥

स्वयम्भूताभिज्ञं भवभयहरं भीतिरहित
स्फुरद्भाग्यं भोगोज्झितमहतवीर्य्यं मदनजित् ।
चतुर्मार्गं शुद्धप्रकृति च तथाऽकर्त्तृकमिदं
मुदं लोकोत्कृष्टामतनु तनुतां वस्तु जगताम् ॥८।

स्वप्रयत्न से अभिज्ञा-प्राप्त, संसार-भय को नष्ट करनेवाले, भयरहित, महापुरुष लक्षणों से युक्त, भोगत्यागी, दशबलधारी, मारजित्, श्रोतापत्ति आदि चारों मार्ग प्राप्त, निर्मलचित्त, पुनर्भव को रोकनेवाले (बुद्ध) प्राणियों के हर्षकोबढ़ायें ॥८॥

क्वचिन्नीलं पीतं क्वचिदपि च रक्तं क्वचिदपि
क्वचिच्चन्द्रच्छायां क्वचिदपि च माञ्जिष्ठरुचिरम् ।
क्वचित् प्राभास्वर्य्यं यदऽयति च वर्णव्यतिकरा-
च्छिखाषट्कं तैस्तैर्दधदुपरि तद्बुस्तु शरणम् ॥ ९ ॥

जो कहीं नीलवर्ण, कहीं पीतवर्ण, कहीं लाल वर्ण, कहीं चन्द्रमा की छाया के सदृश, कहीं माञ्जिष्ठवर्ण, कहीं प्रभास्वर वर्ण और जो उन्हीं नील पीत आदि वर्णों के मेल से छः रङ्गोंवाली शिखा को सिर पर धारण किये हैं वह (बुद्ध) मुझे शरण दें ॥ ९ ॥

पराभेद्यं जाम्बूनदरुचिरवर्णं त्रिशरणं
त्रियानं त्रिप्रज्ञं त्रिभुवनभरं सत्रिवचनम् ।
कृपापात्रं मन्दस्मितमरुणसच्चीवरधरं
कृतध्यानं सिद्धासनघटितपादस्तुशरणम् ॥१०॥

जिन्हें कोई भेद न सके, जिनका वर्ण जाम्बूनद (स्वर्ण) सदृश है, जो त्रिशरण रूप हैं, जो त्रियान रूप* हैं, जो

---

* १ सम्यक्सम्बुद्धयान, २ प्रत्येकबुद्धयान, ३ अर्हत्यान ।

त्रिप्रज्ञरूप हैं, जो तीनों लोकों के प्रतिष्ठारूप हैं, जो त्रिवचन† रूप हैं, जो कृपापात्र हैं, जो मन्द मुसकानवाले हैं, जो अरुणवर्ण सुन्दर चीवर-धारी हैं, जो ध्यानी हैं, जिनके चरण सिद्धासनावस्था में स्थित हैं वह (बुद्ध) मुझे शरण दें ॥ १० ॥

प्रसन्नं फुल्लेन्दीवरनयनयुग्मं त्रिपिटकं
मुहुर्व्याकुर्व्वाणं सुरनरगणेभ्यः करुणया ।
परं शान्तं स्वर्णोपलरजतलोष्टेषु च समं
दृशां नव्यातिथ्यं भवतु मम तद्वस्तु शरणम् ॥११॥

जो प्रसन्नवदन हैं, जिनके नयन खिले कमल के सदृश हैं, जिन्होंने देवों तथा मनुष्यों के गण के लिए करुणा से बार-बार त्रिपिटक का प्रकाशन किया है, जो परम शान्त हैं, जिनके लिए सोना, पत्थर, चाँदी तथा मिट्टी का ढेला समान है, जो (लोगों की) दृष्टि के लिए नये अतिथि की तरह हैं, वे (बुद्ध) मुझे शरण दें ॥ ११ ॥

---

† सूत्र, विनय तथा अभिधर्म्म ।

शरणमिति सद्मं साधु गच्छामि बुद्धं
शरणमिति विरागाग्रीयमन्वेमि धर्म्मम् ।
शरणमिति गणानामग्रियं यामि सङ्घं
शरणमिति पुनस्त्रीन् द्वित्रिवारं व्रजामि ॥१२॥

जो साधुओं में श्रेष्ठ हैं (मैं) उन बुद्ध की शरण ग्रहण करता हूँ, जो वैराग्य धर्मों में श्रेष्ठ है (मैं) उस धर्म की शरण ग्रहण करता हूँ, जो सारे गुणों में श्रेष्ठ है (मैं) उस संघ की शरण ग्रहण करता हूँ। मैं फिर दो-तीन बार इन तीनों की शरण जाता हूँ॥ १२ ॥

पुनरपि शरणं व्रजामि बुद्धं
पुनरपि लोकगुरुं गुरुं करोमि ।
पुनरपि कथयामि नौमि वन्दे
त्वयि मम गौतम ! नैव तृप्तिरस्ते ॥१३॥

मैं फिर भी बुद्ध की शरण जाता हूँ। फिर भी उस लोक गुरु को अपना गुरु मानता हूँ। फिर भी (उनका) गुणानुवाद करता हूँ। उन्हें नमस्कार करता हूँ। उनकी

वन्दना करता हूँ। हे गौतम ! (तुम्हारी शरण ग्रहण करने से) मेरी तृप्ति नहीं होती ॥ १३ ॥

त्रिभुवनमसकृन्निरूप्य युष्मत्-
पदसरसीरुहरेणुमाश्रितोऽहम् ।
शरणमयमयञ्च दैवतं मे
गतिरपरा मम नास्ति नास्ति नास्ति ॥१४॥

अनेक बार तीनों लोकों (के मुनियों) की परीक्षा करके मैंने आपके चरण-कमलों की धूलि की शरण ग्रहण की है। यह शरण ही मेरा देवता है। मेरी कोई दूसरी गति नहीं है, नहीं है, नहीं है ॥ १४ ॥

अनित्यमखिलं दुःखमनात्मेति प्रवादिने
नमो बुद्धाय धर्माय सङ्घाय च नमो नमः ॥१५॥

सभी संस्कारों को अनित्य, दुःख तथा अनात्म प्रकाशित करनेवाले बुद्ध को नमस्कार है, और नमस्कार है धर्म तथा संघ को ॥ १५ ॥

भो वीतराग भगवंस्तव पादमेव
वन्दे मुनीन्द्र मुहुरेवमिमं प्रवन्दे ।
भूयः पुनः पुनरिमं पुरतः परस्तात्
पार्श्वद्वयोरुपरि दिक्षु विदिक्षु वन्दे ॥१६॥

हे वीतराग भगवान् ! मैं आपके चरणों में ही प्रणाम करता हूँ । हे मुनीन्द्र ! मैं बार-बार इन्हें प्रणाम करता हूँ । मैं फिर, बार-बार आगे-पीछे, दोनों ओर, ऊपर की ओर, चारों दिशाओं तथा चार विदिशाओं में (इन आपके चरणों की ही) वन्दना करता हूँ ॥ १६ ॥

गतमिह भवता पथा च येन
स्थितमपि यत्र च यत्र वा निषण्णम् ।
शयितमपि मुनीन्द्र यत्र योगात्
तदपि शतं प्रणमामि पुण्यतीर्थम् ॥१७॥

जिस रास्ते से आप गये, जहाँ खड़े हुए, जहाँ बैठे अथवा हे मनीन्द्र ! जहाँ आपने समाधिस्थ हो शयन किया, मैं उन सब पुण्यतीर्थों को सौ बार प्रणाम करता हूँ ॥१७॥

समजनि भगवान् स्वयं स्म यस्मिन्
सकलमबोधि च यत्र धर्मचक्रम् ।
विशदतरमदीपि यत्र यस्मि-
न्नमृतिमपूरि तदप्यहं नमामि ॥१८॥

जहाँ भगवान् स्वयं उत्पन्न हुए, जहाँ बुद्धत्व प्राप्त किया, जहाँ निर्मल धर्म-चक्र चलाया और जहाँ परिनिर्वाण प्राप्त किया उस स्थान को भी मैं नमस्कार करता हूँ ॥१८॥

सर्वज्ञवक्त्रसरसीरुहराजहंसं
कुन्देन्दुसुन्दररुचिं सुरवृन्दवन्द्यम् ।
सद्धर्मचक्रसहजं जनपारिजातं
श्रीदन्तधातुममलं प्रणमामि भक्त्या ॥१९॥

सर्वज्ञ (बुद्ध) के मुखकमल में राजहंस की तरह शोभायमान कुन्द (पुष्प) तथा चन्द्रमा की तरह सुन्दर, देवताओं के समूह द्वारा वन्दनीय, सद्धर्म-चक्र-युक्त तथा प्राणियों के लिये कल्पवृक्ष, निर्मल श्रीदन्तधातु को भक्ति-पूर्वक नमस्कार करता हूँ ॥ १९ ॥

नागालयोपरिधरालयचक्रवालं
मूर्ध्नित्रिकूटगतकाञ्चनशैलशृंगे ।
बोधिद्रुमूलनिहिताक्षयधातुबिम्बं
विभ्रन्नमामि शिरसा जिनचैत्यमग्रम् ॥२०॥

रसातल के ऊपर की पृथ्वी पर के चक्रवाल पर्वत के शिखर पर के त्रिकूट-पर्वत के काञ्चन-शैल के शिखर पर स्थापित श्रेष्ठ बुद्ध-चैत्य, जिसके समीप बोधिवृक्ष है तथा जिसमें अक्षय बुद्धधातु प्रतिष्ठित करके मूर्ति बनाई गई है मैं उसे सिर पर धारण करके प्रणाम करता हूँ ॥ २० ॥

हैमालवालवलयान्तररत्नवेदी-
वज्रासनोल्लसितमूलमगेन्द्रबोधिम् ।
यं प्राप्य मारविजयानुपदं प्रपेदे
सर्व्वज्ञतां स भगवांस्तमहं नमामि ॥२१॥

सोने के थाले के घेरे के अन्दर स्थापित रत्नों की वेदिका के वज्रासन से जिस श्रेष्ठ बोधिवृक्ष का मूल सुशोभित है, जिसे प्राप्त करने के अनन्तर मार-विजय करके उन भग-

वान् ने सर्वज्ञता प्राप्त की, मैं उस बोधिवृक्ष को प्रणाम करता हूँ ॥ २१ ॥

मूर्द्धन् बुद्धं नम त्वं श्रवण शृणु सदा धर्ममद्वैधवादि-
प्रोक्तं सर्व्वज्ञरूपं नयन निरुपमं पश्य जिघ्राङ्घ्रिपद्मम् ।
घ्राण त्वं चार्कबन्धोःस्तुहि सखि रसने श्रीघनं पूजयेथाः
सिद्धं पाणे व्रजाङ्घ्रे जिनसदनमदस्तद्गुणांचित्तचिंतय२२

हे सिर ! तू बुद्ध को नमस्कार कर । हे कान ! तू सदा बुद्ध द्वारा उपदिष्ट धर्म सुन । हे आँख ! तू उपमा-रहित सर्वज्ञ (बुद्ध) के रूप को देख । हे नाक ! तू चरणकमलों को सूंघ । हे सखि जिह्वा ! तू अर्क-बन्धु की स्तुति कर । हे हस्त ! तू सिद्ध बुद्ध की पूजा कर । हे पैर ! तू बुद्धगृह अर्थात् विहार जा । हे चित्त ! तू बुद्धगुणों का चिन्तन कर ॥२२॥

बुद्धो धर्मश्च संघस्त्रितयत्रियमिति महानर्घरत्नं मुमुक्षोः
अद्यारभ्याहमस्मै त्रिभवभयभिदे सन्ददाम्यात्मभावम् ।
एषोहं तत्परः स्याम्परमयनमितो नास्ति मे सत्यमेतत्
स्यामस्याहं तुशिष्यस्त्रिदशनुतमिदं कोटिकृत्वोनमामि २३

मोक्ष की इच्छा रखनेवाले के लिये बुद्ध धर्म तथा संघ यह तीन अमूल्य रत्न हैं। आज से मैं तीनों भवों के भय को नष्ट करनेवाले (रत्नत्रय) के लिये आत्म-बलिदान करता हूँ। अब से मेरे लिये वही सर्वश्रेष्ठ है। मेरे लिये दूसरा मार्ग नहीं है; यह सत्य है। मैं तो रत्नत्रय का शिष्य हूँ। मैं दैव-स्तुत त्रिरत्न को कोटि बार प्रणाम करता हूँ ॥२३॥

नाहं लाभार्चनार्थी न च भयचकितो नापि सत्कीर्तिकामो
न त्वं घर्मांशुवंशप्रभव इति मुने नापि विद्याशया ते।
पारम्पर्यान्न च त्वां शरणमुपगतः किन्तु ते सार्वजन्यं
सम्यग्ज्ञानं समीक्ष्य त्वयि भवजलधिं सन्तरीतुं प्रवृत्तः २४

हे मुनि ! न तो मैंने लाभ-सत्कार के लिए, न भयभीत होकर, न सत्कीर्ति की कामना से, न तुम्हें सूर्य-वंशोत्पन्न समझकर, न (लौकिक-) विद्या की आशा से और न (पूर्व-) परम्परा से ही तुम्हारी शरण ग्रहण की है। किन्तु तुम्हारे सर्वजन-हितकारी सम्यक्ज्ञान को देखकर संसार-सागर को पार करने के लिये तुम्हारी शरण ग्रहण की है ॥ २४ ॥

त्वद्वैराग्यसमस्तभूतकरुणाप्रज्ञादिनानागुण-
स्फूर्जच्चन्दनपङ्कसिन्धुपतितो गन्तुं क्षमो नान्यतः ।
भूपा वा यदि दण्डयन्ति विबुधा निन्दन्ति वा बान्धवाः
मुञ्चन्ति क्षणमप्यहं जिनपितः जीवामि न त्वां विना २५

वैराग्य, सभी प्राणियों के प्रति करुणा, प्रज्ञा आदि नाना प्रकार के आपके गुणों के चन्दन के पङ्कसिन्धु में फँसा हुआ प्राणी कहीं अन्यत्र नहीं जा सकता। हे बुद्ध पिता! चाहे मुझे राजा दण्ड दे, चाहे अन्य मतों के "विद्वान" मेरी निन्दा करें, चाहे मेरे सम्बन्धी मुझे छोड़ दें; किन्तु मैं आपके बिना नहीं जी सकता ॥ २५ ॥

स्वर्गे वा वसतिर्ममास्तु निरये तिर्य्यक्षु किंवासुरे
प्रेतानां नगरेऽथवा नरपुरे क्वाप्यन्यतः कर्मणा ।
भो सर्व्वज्ञ ततस्ततस्तव गुणान् कर्णामृतस्यन्दिनो
निष्पापानवलम्बतां मम मनो मान्या सुखप्रार्थना ॥२६॥

मेरे कर्म के फल-स्वरूप मुझे चाहे स्वर्ग में रहना मिले, चाहे नरक में, चाहे पशुयोनि में, चाहे असुर-योनि में, चाहे प्रेतों के नगर में, चाहे मनुष्य-लोक में अथवा और भी

अनात्म, अनित्य, अशुभ, अत्यन्त दुखपूर्ण तथा असीम संसार-चक्र में भटकते हुए का मेरा त्राण करने वाले हे करुणासागर! तुमही अकेले हो। इसलिये हे प्रभो! कृपा करो। कृपा करो॥ ३०॥

प्रसीदेश देवेश लोकेश जिष्णो
जगद्वन्द्य मद्वन्द्य सद्वन्द्य बुद्ध
अघारे भवारे स्मरारे तमारे
तवैवास्मि भक्तो वपुर्वाङ्मनोभिः ॥३१॥

हे परार्थ करने में समर्थ (ईश)! हे इन्द्रियों के स्वामी! हे काम (लोकेश)-जित्! हे जगत् वन्दनीय! हे मेरे द्वारा वन्दनीय! हे सत्पुरुषों द्वारा वन्दनीय! हे पाप-नाशक! हे संसार-विध्वंसक! हे काम-शत्रु! हे अन्धकार-विनाशक बुद्ध! मैं काय, वाक् मन से आपका ही भक्त हूं॥ ३१॥

स तव कुलसुतः स एव भक्तः
स भवति शासनधुर्वहः स शिष्यः।
स च शरणगतः स एव दासः
कथमपि यो न विलङ्घयेत्तवाज्ञाम् ॥३२॥

वह ही आपका कुलपुत्र है, वही भक्त है, वही शासन-धारी है, वही शिष्य है, वही शरणागत उपासक है, वही दास है जो किसी तरह भी आपकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं करता ॥ ३२ ॥

जगदुपकृतिरेव बुद्धपूजा
तदपकृतिस्तव लोकनाथ पीडा।
जिन जगदपकृत् कथं न लज्जे
गदितुमहं तव पादपद्म भक्तः ॥३३॥

हे बुद्ध ! जगत् का उपकार करना ही तो आपकी पूजा करना है और हे लोकनाथ ! जगत् का अपकार करना ही आपको पीड़ा देना है। हे जिन ! मैं जगत् का अपकारक हूँ। तब मुझे अपने आपको आपके चरण-कमलों का भक्त कहने में क्यों लज्जा न आये ॥ ३३ ॥

धन-जन-विभवासु-देह-राज्यं
यदुपकृते शतधा त्वया प्रदत्तम्।
तमहितमपकर्तुरस्य लोकं
क्व मम कृपा मुदिता क्व वा क्व मैत्री ॥३४॥

जिस अहित करनेवाले (भी) लोक पर-उपकार करने के लिए तुमने जन, धन, वैभव, जीवन, शरीर तथा राज्य त्याग दिया उसी लोक का अपकार करनेवाले की मेरी क्या कृपा ? क्या मुदिता ! क्या मैत्री ?

उपपतिमसतीव चित्तवृत्ति
व्रजति भवन्तमपास्य पञ्चकामम् ।
अपि च विषयिणो न मोक्षसिद्धिः
किमु करवाणि मुनीन्द्र देहि दास्यम् ॥३५॥

हे मुनीन्द्र ! आपको छोड़कर मेरी चित्त-वृत्ति पाँचों प्रकार के कामभोगों की ओर उसी तरह दौड़ती है जैसे कुलटा अपने जार की ओर। विषयी को मोक्षसिद्धि होती ही नहीं। मैं क्या करूं ? मुझे अपना दास बनायें ॥ ३५ ॥

प्रियतम पुरुषोत्तमाग्र बुद्ध
श्रमहर सिद्ध जगत्प्रसिद्धकीर्त्ते ।
भवशरणमनुत्तरप्रसादिन्
प्रतिपदमस्मि तवैव दासदासः ॥३६॥

हे प्रियतम ! हे पुरुषोत्तम-श्रेष्ठ ! हे बुद्ध ! हे श्रमहर ! हे सिद्ध ! हे जगत् प्रसिद्ध ! हे अनुत्तर ! हे प्रसादस्वरूप ! आप मुझे शरण दें । मैं प्रतिपद आपका ही दासानुदास हूँ ॥ ३६ ॥

दशबल कलिकालदुर्बलोऽहं
चिरदुरितार्णवतुङ्गभङ्गमग्नः
तव कथमनुयामि धर्मनावं
जिन मम देहि कृपाकरावलम्बम् ॥३७॥

हे दशबलधारी ! मैं कलिकाल में पैदा हुआ हूँ, दुर्बल हूँ। चिरकाल तक इस दुस्तर सागर की महान् लहरों में डूबा रहा हूँ। मैं आपकी धर्मनौका में कैसे चढ़ूँ ? हे जिन ! मुझे कृपा-रूपी हाथ का सहारा दें ॥ ३७ ॥

प्रणतिरियमनेकशस्तवाहं
बहुभवदुःखमवेक्ष्य भीतिभीतः ।
धर गुरुतर तृष्णया पतन्तं
जिन मम देहि कृपाकरावलम्बम् ॥३८॥

मैं तुम्हें अनेक बार प्रणाम करता हूँ। मैं संसार के बहुत दुःख को देखकर भयभीत हूँ। भारी तृष्णा मुझे नीचे गिरा रही है, पकड़ो। हे जिन ! मुझे कृपारूपी हाथ का सहारा देकर बचायें ॥ ३८ ॥

जगति तव कृपा हि निर्विशेषा
प्रपव तया जिन मां च दोषदुष्टम्।
अलमहमिह नो सुखी तयेन्दु-
र्न समकरश्चरतीह साध्वसाध्वे ॥३९॥

हे जिन ! जगत् में आपकी ही कृपा सर्व-साधारण के लिए है। उस कृपा से मुझ दोषी को शुद्ध करें। मैं इस जगत् में उसी (करुणा) से सुखी हूँ। क्या चन्द्रमा की कीरणें सज्जन-दुर्जन सभी पर समान रूप से नहीं पड़तीं ? ॥ ३९ ॥

उपचित-बहुमोह-जातमन्धं
विगतदयं विगतात्मबन्धुगन्धम्।
अपगतगुणविद्यमुद्गताघं
जनमविवेकमवाशु दीनबन्धो ॥४०॥

मैंने बहुत मूढ़ता का संग्रह किया है। मैं अन्धा हूँ। मैं दयारहित हूँ। मुझमें आत्मीयता की गन्ध नहीं रही। मेरे गुण तथा विद्या नष्ट हो गई है। मुझमें पाप उदय हो गये हैं। हे दीनबन्धु! इस अविवेकी जन की शीघ्र रक्षा करें ॥ ४० ॥

अकरवमुरुदुष्कृतं पुरा य—
न्मम वपुषा वचसा च चेतसा च।
अनुकलमखिलं प्रलीयतां तत्
तव चरणस्मरणेन सर्ववेदिन् ॥४१॥

मैंने पूर्वजन्म में मन, वचन तथा कर्म से जो महान् (मातृघात आदि) पाप किये हे सर्वज्ञ! वे सब आपके चरणस्मरण (के प्रताप) से क्षण-क्षण में विलीन हो जायें ॥ ४१ ॥

सुगत तव पुरःपुरः पृथिव्यां
मधुरमते पतितोस्मि दण्डनत्या।
अकुशलमखिलं तवानुभावात्
प्रपततु नोत्पततात् पुनः सहैव ॥४२॥

हे सुगत ! हे मधुरमते ! मैं आपके आगे-आगे पृथ्वी पर गिरकर दण्डवत् प्रणाम करता हूँ । आपके प्रताप से मेरे सब पापकर्म झड़ जायें और फिर उठने के साथ न उठें ॥४२॥

तव चरणसरोजमेव वन्दे
तव पदपङ्कजमेव पूजयामि ।
तव पद्युगमेव भावयेऽहं
तव पदमेव सदैव दैवतं मे ॥४३॥

तुम्हारे चरणरूपी कमलों की ही वन्दना करता हूँ । तुम्हारे पाद-पद्मों की ही पूजा करता हूँ। तुम्हारे चरण-युगल का ही ध्यान करता हूँ। तुम्हारे चरण ही सदा मेरे देवता हैं ॥ ४३ ॥

कमपि न कथयामि नार्चयामि
कमपि न नौमि न चिन्तयामि नेहे ।
कमपि न शरणं व्रजामि हित्वा
तव चरणं पितरस्मि किङ्करस्ते ॥४४॥

हे पिता ! तुम्हारे चरणों को छोड़कर मैं किसी का भी गुणानुवाद नहीं करता हूँ । किसी की भी पूजा नहीं करता

हूँ। किसी को भी प्रणाम नहीं करता हूँ। किसी का भी ध्यान नहीं करता हूँ। किसी की भी कामना नहीं करता हूँ। किसी की शरण भी नहीं जाता हूं। मैं तो तुम्हारा ही दास हूं ॥ ४४ ॥

सदसि-सदसि वाचि वाचि सिद्धं
पथि पथि सद्मनि सद्मनीह बुद्धम्।
भुवि भुवि मम वारि वारि चेतः
कलयतु नित्यमिमं हि लोकनाथम् ॥४५॥

इस (जगत्) में सभा-सभा, वचन-वचन में, रास्ते-रास्ते पर, घर-घर में, पृथ्वी-पृथ्वी पर, जल-जल में मेरा चित्त इन्हीं सिद्ध बुद्ध लोकनाथ का ध्यान करे ॥ ४५ ॥

अविरतमवलोकयामि बुद्धं
गतरजसा मनसापि चक्षुषेव।
स्वपिमि निशि निधाय यद्धृदि त्वां
न मम समं विरहस्त्वयात एव ॥४६॥

रजरहित चित्त से आँखों से देखने ही की तरह मैं नित्य बुद्ध को देखता हूँ, और क्योंकि मैं तुम्हें रात में दिल

में रखकर सोता हूं, इसलिए तुम्हारे से मेरा वियोग नहीं है ॥ ४६ ॥

मम तदिह दिनं हि दुर्दिनं स्या-
दसितघनस्थगितं न दुर्दिनं मे ।
यदमृत-सम बुद्ध-रत्न-नाम
स्मृतिरहितं दिनमस्य मा तदस्तु ॥४७॥

मेरा वह दिन दुर्दिन नहीं है जिस दिन काले बादल घिरे हों। मेरा तो वही दिन दुर्दिन है जिस दिन मेरी स्मृति अमृत-समान बुद्ध-रत्न नाम से रहित रहे। ऐसा दिन न हो ॥ ४७ ॥

अमृतद षड्भिज्ञ धर्मराजन्
त्रिभुवनवन्द्य मुनीन्द्र गौतमेति ।
अहरहरनुकीर्त्यते नृभिर्यै—
रहमहितानपि तान् नमामि धन्यान् ॥४८॥

जो कोई आपको 'अमृतदाता, षड्भिज्ञ, धर्मराजा, त्रिभुवन वन्दनीय, मुनीन्द्र तथा गौतम' कह-कह कर दिन

प्रति दिन कीर्तन करते हैं, मैं उन धन्य मनुष्यों को—चाहे वे मेरे विरोधी ही क्यों न हों—नमस्कार करता हूँ ॥४८॥

दशबल जिन सिद्ध वज्रबुद्धे
सुगत तथागत बुद्ध शाक्यसिंह ।
इति निगदति यः क्वचित् कदाचित्
तमभिनमाम्यपि दासवंशजातम् ॥४९॥

जो कोई कहीं कभी भी 'दशबलधारी, जिन, सिद्ध, वज्रबुद्धि, सुगत, तथागत, बुद्ध, शाक्यसिंह' का स्मरण करता है, मैं उसे—चाहे वह दास वंशोत्पन्न हो—नमस्कार करता हूँ ॥४९॥

मदनजित पराजितेड्य शास्तः
विभव विनायक विश्वविद् वरेण्य ।
कविवर वदतां वरेश शुद्धो-
दनसुत शाक्यमुने मुने प्रसीद ॥५०॥

हे मदनजित् ! हे अपराजित ! हे स्तुत्य ! हे शास्ता ! हे भवरहित ! हे नायक रहित ! हे सर्वज्ञ ! हे श्रेष्ठ !

हे कवि श्रेष्ठ ! हे वादी श्रेष्ठ ! हे शुद्धोदनसुत ! हे शाक्य-मुनि ! हे मुनि ! कृपा करो ।। ५० ।।

अमृतमपि निपीय निर्जरेन्द्राः
पुनरपि तेऽपि शुनीस्तनं धयन्ति ।
सकृदपि तव वाक् सुधारसज्ञो
न विशति जातु स मातुरेव गर्भम् ।।५१।।

इन्द्र उपेन्द्र आदि देवता अमृत पीकर भी कुतिया के स्तन तक को पीते हैं । लेकिन आपकी वाणी रूपी अमृत के रस को एक बार चखने वाला फिर निश्चय से माता के गर्भ में नहीं आता ।।५१।।

अहमिह भगवन्नलं न सोढुं
जननजरामरणाभयादिबाधाम् ।
कुरु मम करुणां दिशो न जाने
गुरु तदवेक्ष्य च तिर्य्यगादि दुःखम् ।।५२।।

हे भगवन् ! मैं इस जगत में जन्म, जरा, व्याधि, मरण आदि दुःखों को सहन नहीं कर सकता और पशु योनि आदि

में पैदा होने का जो महान् दुःख है उसे देखकर (मुझे) दिशा नहीं सुझती। मुझ पर दया करें ॥५२॥

तदुपरि परिचिन्त्य वृद्धकाले
करचरणादिदृगादिपारवश्यम्।
अगतिकमति वेपते मनो मे
जिन किमहं करवै प्रभो प्रसीद ॥५३॥

और फिर वृद्धावस्था में हाथ पाँव आँख आदि इन्द्रियों की परवशता की बात सोचकर मेरा अस्थिर मन काँपता है। हे जिन! मैं क्या करूँ? हे प्रभो! कृपा करें ॥५३॥

श्रवणपथगतेप्यदृष्टपूर्वे
सुखकृतिवस्तुनि यत् तनोमि तृष्णाम्।
अविरतमत एव शान्तिबीजे
त्वयि वलते रमते ममत्वचेतः ॥५४॥

क्योंकि बिना पूर्व देखे हुये, केवल सुने-सुनाये सुखकर माने जाने वाले विषयों में भी मेरी तृष्णा बढ़ती है, इसलिये आपके प्रति, जो शान्ति के मूल हैं, मेरा मन नित्य ममत्व रखता है, आकृष्ट रहता है ॥५४॥

सविपदि रमते न मे मनोऽतः
सुरनरशर्मणि पूर्वपूर्वभुक्ते ।
अनुदिनमनुभूय शर्कराया-
मपि विरतिं कुरुते हि दृष्टदोषः ॥५५॥

पूर्वजन्मों में भोगे हुये देव मनुष्यों के दुख-सहित सुखोंमें मेरा मन रमण नहीं करता । रोज रोज शक्कर खाने वाला भी जब उसमें दोष देख लेता है तो उसका मन विरत हो जाता है ॥५५॥

करतलगतमप्यमूल्यचिन्ता-
मणिमवधीरयतीङ्गितेन मूर्खः ।
कथमहमपहाय बुद्धरत्नं
जगति धनी गुणवांश्च पण्डितश्च ॥५६॥

हाथ पर आई हुई अमुल्य चिन्तामणि के भी प्रति मूर्ख आदमी अवज्ञा प्रदर्शित कर देता है । मैं इस जगत में बुद्धरत्न को छोड़कर धनी, गुणवान् और पण्डित कैसे हो सकता हूँ ?

स भवति मतिमान् स ना कुलीनः
स च गुणवान् स च कीर्तिमान् स शूरः ।
स जगति महितः सुखी स एव
त्वयि जिन यस्य सुनिश्चलास्ति भक्तिः ॥५७॥

हे जिन ! जिसकी तुम्हारे प्रति स्थिर भक्ति है वही बुद्धिमान् है, वही पुरुष है, वही कुलीन है, वही गुणवान् है, वही कीर्तिवान् है, वही शूर है, वही जगत में महान् है, वही सुखी है ॥५७॥

अपि सकलमधीतमत्र तेन !
श्रुतमपि सर्वमनुष्ठितञ्च तेन !
अपि जितमजितेन तेन विश्वं
त्वयि जिन यस्य सुनिश्चलास्ति भक्तिः ॥५८॥

हे जिन ! जिसकी तुम्हारे प्रति स्थिर भक्ति है उसने संसार में सब कुछ पढ़ लिया है, सब सुन लिया है, सब अनुष्ठान कर लिया है, उस अजित ने सारा विश्व जीत लिया है ॥५८॥

त्यजति निजपरम्परादरेणे-
तरसमयस्थजनो न दृष्टदृष्टिम् ।
असुहरमपि गौरवेण मातु-
र्न खलु शिशुर्विषमोदकन्तु मुञ्चेत् ॥५९॥

जिस प्रकार बालक माताके प्रति गौरव होने के कारण उसके दिये हुए विष मिले प्राणहर मोदक को नहीं छोड़ता, उसी प्रकार अपनी परम्परा के प्रति आदर होने के कारण अन्य मतों के अनुयायी अपने मतों को नहीं छोड़ते हैं॥५९॥

कवि वरमिदमस्मि पण्डितस्ते ।
जिन न जहामि कथन्नु दुर्गृहीतम् ।
नुदति हि तमसन्ततिं प्रवृत्ता
मिहिरमरीचिसहायिनी सुदृष्टिः ॥६०॥

हे जिन ! मैं (तुम्हारा गुणानुवाद करने से) श्रेष्ठ कवि हूँ, पण्डित हूँ । तो फिर मैं मिथ्या मत को क्यों न छोड़ दूँ ? सूर्य्य की किरणों की सहायता-प्राप्त सुदृष्टि फैले हुये अन्धकार-समूह को नष्ट करती ही है ॥६०॥

सुगतपदपराङ्मुखस्य पुंसः
किमु तपसा यशसा च किं किमन्यैः।
सुगतपदपराङ्मुखस्य पुंसः
किमु तपसा यशसा च किं किमन्यैः ॥६१॥

जो सुगत के चरणों से विमुख है उसे तप, यश तथा दूसरी बातों से क्या लाभ? जो सुगत के चरणों से विमुख नहीं है उसे तप, यश तथा दूसरी बातों से क्या लाभ? ॥६१॥

सुगतपदि न भक्तिरस्ति येषा-
मजननिरेव महीतलेऽस्तु तेषाम्।
कथितमिह कृतागसां नराणां
निरयगतिर्नियतं न चान्यतो वा ॥ ६२ ॥

जिनकी सुगत के चरणों में भक्ति नहीं है, उनका पृथ्वी तल पर पैदा न होना ही अच्छा है। पापी जनों (मातृघात आदि महान् पाप करने वालों) के बारे में यही कहा गया है कि उनका नरक में ही उत्पन्न होना निश्चित है, पशु योनि आदि और किसी योनि में नहीं ॥६२॥

विदितसकलशास्त्रमुन्नतानां
कुलभवमुत्तमरूप यौवनाद्यम् ।
जिन भवदनुपासकं नृपाशं
त्यजतु मनो मम नीचवत्तु जात्या ॥ ६३ ॥

हे जिन ! जो आपका उपासक नहीं है चाहे उसने सकल शास्त्र पढ़े हों, चाहे वह ऊँचे कुलों में पैदा हुआ हो, चाहे वह उत्तमरूप यौवन आदि वाला हो, उस नीच मनुष्य को मेरा मन जन्म से नीच (?) आदमी की तरह छोड़ दे ॥६३॥

परिहृतमदमानमत्सरादि
सकरुणशीलसमाधिमान् विवेकी ।
तव पददृढ़भक्तिरन्त्यजोऽपि
प्रतिभवमस्तु नरोत्तमः सखा मे ॥ ६४ ॥

जिस नरश्रेष्ठ ने मदमान, मात्सर्यादि को त्याग दिया है, जो दयावान् है, जो शीलवान् है, जो समाधियुक्त है, जो शान्तचित्त (विवेकी) है, जिसकी आपके चरणों में दृढ़ भक्ति है वह चाहे अन्त्यज (?) भी हो वही जन्म जन्म में मेरा सखा हो ॥६४॥

विहितजिनपदार्च्चनस्य भक्तु-
र्दशदिवसानपि जीवितं प्रशस्तम् ।
न तु नियुतसहस्रकल्पकोटि-
रकृतमुनीन्द्रपदाब्जपूजनस्य ॥ ६५ ॥

जिसने बुद्धके चरणों की पूजा की है उस भक्त का दस दिन का जीवन भी स्तुत्य है और जिसने बुद्ध के चरणकमलों की पूजा नहीं की, उसका नियुत-सहस्रकोटि कल्प तक जीना (भी व्यर्थ ही है) ॥६५॥

स भवति सुरसुन्दरी-सखोऽन्यैः-
कृतमभिनन्दति वार्चनञ्च भक्त्या ।
त्रिदशनरगुरो त्वदीय पूजा-
मगतितया यदि कर्तुमक्षमः स्यात् ॥६६॥

हे देव तथा मनुष्यों के गुरु ! यदि कोई दरिद्रता के कारण तुम्हारी पूजा करने में असमर्थ हो और वह भक्ति से दूसरों द्वारा की गई अर्चना का ही अनुमोदन करे तो वह (देवालोक की) सुन्दरियों का सखा होता है ॥६६॥

सुरुचिरमतिचित्रचित्ररूपं
नयनपथं नयतीह यस्तवाऽर्च्यम् ।
रमयति पुरुषं तमप्युदारं
चिरतरसञ्चितदुष्कृतं कवीन्द्र ॥६७॥

हे कवीन्द्र ! जो आपकी सुरुचिपूर्ण, अति सुन्दर चित्र-रूप पूजा को देखता है, उस उदार पुरूष के भी चिरकाल से सञ्चित पापकर्म उसे छोड़ देते हैं* ॥६७॥

मणिकनकशिलादि निर्म्मितां यः
प्रणमति ते प्रतिमां तयोश्च तुल्यम् ।
फलमिह मनसः समप्रदाना-
दनुपरतं जिन योऽग्रतो नमेत् त्वाम् ॥६८॥

हे जिन ! जो आपके जीवन काल में आपको प्रणाम करे और जो आपकी मणि सोना वा पत्थर की बनी मूर्ति को प्रणाम करे उन दोनों का फल, मन का प्रसाद समान होने से तुल्य है ॥६८॥

---

* दर्शन करने के समय भर के लिये उनका प्रहाण हो जाता है।

सकृदपि तव पादपद्मपूजां
वनकुसुमैरपि यः करोति धीमान्।
अवनतसुरसंघमौलिमालो-
ज्ज्वलममलं श्रयते तमाधिपत्यम् ॥६९॥

जो बुद्धिमान् आदमी वनपुष्पों से भी, एक बार भी आपके चरण कमलों की पूजा करता है वह अवनत देवसंघ के सिर की मालाओं से उज्ज्वल निर्मल आधिपत्य अर्थात् इन्द्रत्व को प्राप्त करता है ॥६९॥

यदि भवति सरूपमेकचित्त
क्षणशरणोद्भवपुण्यवृन्दमुच्चैः।
गणशरण समन्तभद्र साधो
ऽखिलनभसोऽप्यतिरिच्यते तदा तत् ॥७०॥

हे संघ के आधारभूत गुणों की मूर्ति समन्तभद्र ! यदि एक चित्त होकर, एक क्षण के लिये शरणागमन से उत्पन्न होनेवाला महान् पुण्य साकार हो जाय तो तब वह सारे आकाश से भी अधिक होगा ॥७०॥

तव गुणकथने तु यः प्रसन्नः
तमनुविशन्ति मुने गुणास्त्वदीयाः ।
उदयति शशिनि प्रसन्नमिन्दू-
पलमिव तव किरणावली तुषारः ॥७१॥

हे मुनि ! आपका गुणानुवाद करने में जिसे आनन्द आता है, उसमें आपके गुण प्रवेश कर जाते हैं। कैसे? जैसे चन्द्रमा के उदय होने पर चन्द्र कान्तिशिला में उसकी किरण समूहों का तुषार ॥७१॥

सकृदपि समदायि देव किञ्चि-
द्भरतिमुत्सृजता जनेन तुभ्यम् ।
सुगत तदखिलान् लुनाति धारा-
वदसिरिव द्रुममास्रवादिदोषान् ॥७२॥

हे देव ! सांसारिक वस्तुओं की आसक्ति छोड़कर यदि कोई एक बार भी आपके लिये कुछ भी त्यागकर दे तो हे सुगत ! उसका वह त्याग उसके सारे आश्रवादि दोषों को काट डालता है जैसे तलवार वृक्षों को ॥७२॥

कृतमिह सुकृतं मृषादृशा य-
ज्जनयति तत् किल तस्य दुर्विपाकम् ।
क्षितिसलिलरसं स्वतिक्तभावं
नयति यथा पिचुमन्दवीजमुप्तम् ।७३॥

जिनकी मिथ्यादृष्टि है, वह यदि सुकृत (पुण्य) भी करते हैं तो वह सुकृत उन्हें बुरा विपाक ही देता है । कैसे ? जैसे भूमि में रोपा हुआ नीम के वृक्ष का बीज पृथ्वी के जल रस को अपनी तरह कडुआ ही कर देता है ॥७३॥

तव पदनलिने निपत्य भूमौ
निपतति नैव चतुर्ष्वपायकेषु ।
न हि कुशलकरो नरः कदाचित्
क्वचिदपि दुर्गतिमेति नाथ कश्चित् ॥७४॥

तुम्हारे चरण-कमलों के समीप पृथ्वी पर गिरनेवाला फिर चारों नरकों में कदापि नहीं गिरता । हे नाथ ! कुशल कर्म करने वाला कोई भी, कहीं भी, कभी भी दुर्गति को प्राप्त नहीं होता ॥७४॥

इति भवदुपदेशतो विदित्वा
तव पदपङ्कजपूजने रतोऽस्मि ।
दृढयतु भगवन् युगे युगे मे
कुमतिमुदस्य भवे भवऽर्य्यभक्तिम् ॥७५॥

आपके उपदेश से उक्त बात जानकर मैं आपके चरण-कमलों की अर्चना में रत हुआ हूँ। हे भगवान्! मेरे मन में कुमति नष्ट करनेवाली आर्य-भक्ति, जन्म-जन्म युग-युग दृढ़ हो ॥७५॥

स्थिरमपि भगवन् क्षणं तवोक्तौ
करचरणादिदृगादिवैरिवर्गः ।
व्यथयति हृदयं बलाद्विचाल्य
त्वमिदमनाथमनीश पाहि पाहि ॥७६॥

हे भगवान्! तुम्हारे उपदेश में क्षण भर के लिये स्थिर होने वाले इस हृदय को हाथ-पैर, आँख आदि वैरी समूह बलात् चंचल करके पीड़ा देते हैं। हे विनायक! तू इस अनाथ की रक्षा कर, रक्ष कर ॥७६॥

यदि नयनमयं वशे विधातुं
यतति तदा द्रवति श्रवो यदा तत् ।
तदनु रसननासिकाशरीरा-
एयहह परस्परदुर्ग्रहाणि चैवम् ॥७७॥

यदि यह जन नयन को वश में रखने का प्रयत्न करता है, तो कान बेकाबू हो जाते हैं। जब कान वश में रखने का प्रयत्न करता है, तो जिह्वा। यही हाल नासिका और कायेन्द्रीय का है। हाय! यह इन्द्रियाँ परस्पर एक साथ काबू में नहीं रहतीं ॥७७॥

गतिरतिचपलस्य चेतसः स्या-
दिह नभसीव नभस्वतोऽसुरोधा ।
कथमपि भजते क्रमेण धैर्यं
चिरमिदमभ्यसनेने सद्भिरुक्त्या* ॥७८॥

---

* भगवद्गीता के छठे अध्याय के ये (३४-३५) श्लोक प्रसिद्ध हैं:—

अर्जुन उवाच—चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥

जैसे आकाश में वायु का निरोध आसानी से नहीं हो सकता उसी तरह की अतिचपल चित्त की गति है। यह दीर्घकाल के अभ्यास और सद्वैराग्य से जैसे तैसे धैर्य को प्राप्त होता है ॥७८॥

विशदमपि मनः स्वभावतो मे
चिरकृतकिल्बिषकालिमावृतं मे।
कुशलजललवैः कथन्नु धौतं
भवति मयेदृशचेतसार्जितैस्तैः ॥७९॥

यद्यपि मन स्वभाव से निर्मल है, तो भी चिरकाल तक किये गये पाप-कर्मों की कालिमा से आवृत है। मेरे इस प्रकार के चित्त से किये गये कुशल कर्मों के जलकण से वह कैसे शुद्ध होगा ॥७९॥

शुचितरवचनामृतप्रवाहै
रघमलिनीकृतचित्तसंततिं माम्।

भगवानुवाच—असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥३५॥

अनधिवर नितान्तमाधितप्तं
सपदि विशोधय दण्डवन्नमामि ॥८०॥

हे सर्वज्ञ ! पापों से मलिन-चित्त, सन्ततिवाले, अत्यन्त सन्तप्त मन वाले मुझे पवित्र वचनामृत प्रवाह से शीघ्र पवित्र करें। मैं दण्डवत् नमस्कार करता हूँ ॥८०॥

सति सकलगुरौ मुने प्रसन्ने
किमिह दुरापममुत्र किं दुरापम्।
यदमलमनसस्त्वदीयदासाः
सुरपतितां मनसापि नाद्रियन्ते ॥८१॥

आपके निर्मल चित्तवाले दास इन्द्रत्व का मन से भी आदर नहीं करते। हे सकलगुरु ! हे मुनि ! आपके प्रसन्न होने पर उन्हें इस (लोक) में वा परलोक में क्या अप्राप्य है ? ॥८१॥

विदधति भयमिन्द्रियाणि भूम्ना
विषयविषग्रहणेषु दोषदुष्टात्।
न हि सुविदितभाविदाहदोषः
शिशुरपि दीपशिखाग्रसंग्रही स्यात् ॥८२॥

रागादि दोष से मलिन होने के कारण विषयरूपी विष को ग्रहण करने में इन्द्रियाँ बहुत भय मानती हैं। जिसे दीप शिखा के जला सकने का दोष विदित है वह बालक भी दीपशिखा को ग्रहण करने से डरता है ॥८२॥

न भवति जिन यावदेष जीर्णो
विषयपिशाचनिषेवनेन तावत्।
झटिति सुकृतकर्मणि प्रयोज्य
स्वव शरणागतवत्सलागतिं माम् ॥८३॥

हे जिन ! विषयरूपी पिशाच के सेवन करने से इस जन के जीर्णता को प्राप्त होने से पहले इसे शीघ्रता से शुभ कर्म में लगायें । हे शरणागतवत्सल ! मुझ अनाथ की रक्षा करें ॥८३॥

इदमपि यदि वेद्मि पुत्रदार-
स्वतनुगृहादि मरीचिकाम्बुतुल्यम्।
स्थगयति ममता च मामहन्ता
तदपि हि मोहविजृम्भितं गरीयः ॥८४॥

यद्यपि यह जानता हूँ कि यह पुत्र, दारा, अपना शरीर तथा गृहादि सब मरीचिका जल के समान हैं, तब भी मेरी ममता और अभिमान् मुझे ढक लेते हैं। ओह! अविद्या का प्रसार महान् है ॥८४॥

अजनि च निजकरणेन सर्व (मेतद्)
निवसति जीर्यति नश्यति स्वहेतोः।
अहमपि हि तथैव धातुपुञ्जः
कथमहमस्य कथं मुने ममेदम् ॥८५॥

हे मुनि! यह जो कुछ भी पुत्र कलत्र आदि (धातु-पुञ्ज) है वह सब अपने कर्म से पैदा हुआ है, अपने ही कर्म-प्रभाव से जीता है, बूढ़ा होता है तथा मृत्यु को प्राप्त होता है। मैं भी उसी तरह धातु-पुञ्ज मात्र हूँ। मैं इसका कैसे और यह मेरा कैसे हैं? ॥ ८५ ॥

आत्मबुद्धिरिह यस्य जायते
सा च तस्य जनयेदहङ्कृतिम्।
सा तनोति सुतरां भवस्पृहां
सैव मोहजननी मुहुर्मुहुः ॥८६॥

इस जगतमें जिस आदमी की आत्मदृष्टि होती है, वह उसमें अहङ्कार पैदा करती है। वह अहङ्कार और भी भवाशक्ति बढ़ाता है वही भवतृष्णा बार बार मूढ़ता को जन्म देती है ॥ ८६ ॥

तेन कर्म कुरुते शुभाशुभं
तद्द्विध दुःखजनकं भवत्रये।
दुःखमूलमतएव सात्त्वधी-
स्तां लुनाहि जिन मे वचोसिना ॥८७॥

उससे ही शुभाशुभ कर्म होता है। वह कर्म तीनों लोक में दुःख देता है। इसलिये वह आत्म-दृष्टि ही दुख का मूल है। हे जिन! उसे अपनी वचन रूपी तलवार से काट दें ॥ ८७ ॥

अथ सकलविदं दयासमुद्रं
त्रिभुवनकारणकारणं कुलीनम्।
निखिलगतमनन्तमस्तिशान्तिं
मुनिजनमानसहंसमीशमीडे ॥८८॥

मैं सर्वज्ञ, दयानिधि, तृष्णा-विनाशक, कुलीन, सारे लोक में व्याप्त अनन्त गुणवाले, शान्त, मुनिजनों के मानस-हंस, स्वामी की स्तुति करता हूँ ॥ ८८ ॥

स्नाने कर्म्मणि भोजने वितरणे घ्राणे तथाकर्णने
ध्यानस्पर्शनदर्शनादिषु तथा सम्भाषणादावपि ।
प्रातः सायमथो दिवा च निशि च त्वत्पादपद्मे प्रभो
चित्तं मे रमतां मुनीन्द्र सततं यूनां युवत्यामिव ॥८९॥

स्नान करते समय, भोजन करते समय, दान देते समय, सूँघते समय, सुनते समय, ध्यान करते समय, स्पर्श करते समय, देखते समय तथा सम्भाषण आदि करते समय, प्रातः काल, सायंकाल, दिन में वा रात्रिमें हे प्रभो ! हे मुनीन्द्र ! आपके चरण कमलों में मेरा चित्त उसी प्रकार रमण करे जैसे युवकों का चित्त युवतियों के प्रति ॥ ८९ ॥

मत्स्वामिन् मदभीष्टकल्पविटपिन् मद्देवते मद्गुरो
मन्मातर्मदुपास्य मत्प्रियसखे मत्सद्गते मत्पितः ।
मद्विद्ये मदशेषदुखशमकृत् मद्भावने सन्निधे
मन्मुक्ते मदुदारभाग्यमदसो मद्बुद्ध मां पालय ॥९०॥

रूपं लोचनलोभनं श्रवणयोरानन्दसन्दोहदा
वाणी विश्वविमोक्षकृत्तव कृपा वेशोऽति शान्तस्तव ।
पाण्डित्यं प्रथितं जगत्सु भगवन् सर्वज्ञनाम्नैव ते
साम्राज्यस्य च यौवने निरसने वैराग्यसीमा स्फुटम् ॥९४॥

हे भगवन् ! आपका रूप आँखों को लुभाने वाला है, वाणी कानों को प्रचुर आनन्द देने वाली है, कृपा विश्व को मोक्ष देने वाली है, वेश अति शान्त है, पण्डित्य तो 'सर्वज्ञ' नाम होने से ही जगत में प्रसिद्ध है, और यौवन में साम्राज्य-त्याग से असीम वैराग्य प्रकट ही है ॥ ९४ ॥

शौर्य्यं त्वद्विषमेषु दर्पदलनादङ्गीकृतं दैवतै-
र्यद्बाणैः ससुरासुरः प्रविजितो लोकोऽयमीषत्करम् ।
वीर्य्यं ते प्रकटीचकार नितरां निर्वाणसाक्षात्कृतिः
किं ब्रूमो बलवैभवं भगवतस्तत् ते जगद्धूर्व्वहम् ॥९५॥

जिसके बाणों से सुरासुर सहित यह लोक थोड़े ही प्रयत्न से जीता गया उस कामदेव का दर्प दलन करने से देवताओंने तुम्हारे शौर्य्य को स्वीकार किया; और निर्वाण को साक्षात् करने से तुम्हारा वीर्य्य प्रकट है; हे भगवान् !

हम आपके जगत् की धुरि का वहन करने वाले बल वैभव का क्या वर्णन करें ?

यत्र छागतुरंगमारणविधिर्वेदेऽपि तं निन्दसि
प्रेम्णा प्राणभृतामतः सकरुणस्त्वत्तो महान्नापरः ।
एवं ते गुणसम्पदो न विषया बुद्धेरसूयात्मनां
ते मूढाः प्रलपन्ति हन्त सुगतो मद्वेदनिन्दीत्ययम् ॥९६॥

जिसमें बकरे और घोड़ों के मारने की विधि है उस वेद की भी तू प्राणियों के प्रति स्नेह होने के कारण निन्दा करता है, तुझसे अधिक करुणामय दूसरा नहीं है । लेकिन जो दोष ही देखने वाले हैं उनकी बुद्धि तुम्हारे गुणों की सम्पत्ति नहीं देख सकती । अफसोस ! वे मूढ प्रलाप करते हैं कि सुगत ने मेरे वेद की निन्दा की है ॥ ९६ ॥

निम्मज्जत् सुरसुन्दरीकुचचलन्निर्मन्दमन्दाकिनी-
फेनक्षीरसमुद्रकैरवसखी सत्कीर्त्ति लक्ष्मीस्तव ।
यं नालिङ्गति मन्दभाग्यमधुना भूयान्न तेनापि मे
सङ्गः सङ्गदादिवैद्य भगवन्नेषापि मे प्रार्थना ॥९७॥

पुरुष की पराये धन में स्पृहा नहीं है, जो मिथ्यावादी नहीं है, जो मदिरा नहीं पीता है, जो प्राणिहत्या नहीं करता है, जिसे मर्य्यादा भङ्ग करते डर लगता है, जो दयावान् है तथा जिसने सारा अभिमान त्याग दिया है ॥ १०० ॥

सर्व प्राणातिपातात् परधनहरणात् सङ्गमादङ्गनाया
मिथ्यावादाच्च मद्याद्भवति जगति योऽकालभुक्तेर्निवृत्तः
संगीत स्रक्सुगन्धाभरणविलसितादुच्चशय्यासनाद-
प्यासीद्धीमान् सएव त्रिदशनरगुरो त्वत्सुतो नात्र शङ्का१०१

हे देवमनुष्यों के गुरु ! इसमें शङ्का नहीं है कि वही बुद्धिमान् बुद्धपुत्र (कहला सकता) है जो सब प्राणियों की हत्या से विरत है, जो परधन हरण नहीं करता, जो स्त्रीसङ्ग से दूर रहता है, जो मिथ्या भाषण नहीं करता, जो मद्य नहीं पीता, जो विकाल भोजन नहीं करता, जो सङ्गीत आदि से दूर रहता है, जो माला, सुगन्धि, आमरण तथा सजावट से विरत रहता है, तथा जो ऊँची शैय्यासन का उपयोग नहीं करता ॥ १०१ ॥

श्रोतापत्त्यादिमार्गाः सदवयवयुताः घ्नन्ति रागादिदोषान्
दोषास्ते छिन्नमूला हतभवगतयस्तत्फलैर्यान्ति शान्तिम् ।
मार्गाणां क्लेशहानिः सदमृतमजरं कारणं स्यान्नवानां
धर्माणां हेतुरेषां तव जिन वचनं तस्य हेतुस्त्वमेव ॥१०२॥

आर्य अष्टांगिकमार्ग युक्त श्रोतापत्ति आदि * मार्ग रागादि दोषों का हनन करते हैं। जिनका मूल छिन्न हो गया है, जिनका संसार गमनागमन नष्ट हो गया है वे दोष उन (मार्ग) फलों के हेतु से शान्ति को प्राप्त होते हैं। मार्ग सम्बन्धी रागादि क्लेशों का नाश सत्, अमृत, अजर, निर्वाण का कारण है। इन नौ (लोकोत्तर) धर्मों का कारण हे जिन! तुम्हारा वचन है। और उस वचन के कारण (=मूल) स्वयं तुम ही हो ॥ १०२ ॥

विंशत् सत्कायदृष्टिं क्षितिधरममलज्ञानवज्रेण भित्वा
रागद्वेषादिपापं तदुदितमखिलं कर्म चोन्मूलयन्तः ।

---

* स्रोतआपत्ति मार्ग, स्रोतआपत्तिफल, सकृदागामि मार्ग, सकृदागामि फल, अनागामि मार्ग, अनागामि फल, अर्हत् मार्ग तथा अर्हत् फल ।

चत्वारो लब्धमार्गास्तदनु गुणफलास्तेऽपि चत्वार एवं
त्वत्तश्चाष्टार्य्यसङ्घः पृथगिति न पुनश्चिन्तयामो मुनीन्द्र१०३

बीस प्रकार के सत्काय-दृष्टि रूपी पर्वत को निर्मल ज्ञान रूपी वज्र से बींधकर रागद्वेष आदि पाप और उनसे उत्पन्न होने वाले सारे पाप कर्मों की जड़ उखाड़ने वाले स्रोतापत्ति आदि मार्ग चार हैं और उनके अनुसार श्रोतापत्त्यादि फल भी चार ही हैं। इस प्रकार हे मुनीन्द्र ! हम यह नहीं समझते कि यह अष्टार्य्यसंघ आप से पृथक है ॥ १०३ ॥

अपि गगनमनन्तं सर्व्वसत्वोऽप्यनन्तः
सकलमिदमनन्तं चक्रवालं विशालम्।
वदसि जिन विदित्वानन्तया ज्ञानगत्या
तव च गुणमनन्तं वेत्सि बुद्ध त्वमेवम् ॥ १०४ ॥

यह आकाश अनन्त है। सारे प्राणी भी अनन्त हैं। यह सारा विशाल चक्रवाल भी अनन्त है। हे जिन ! आप अनन्त ज्ञान गति से जानकर उपदेश देते हैं। हे बुद्ध ! आप ही अपने अनन्त गुण को जानते हैं ॥ १०४ ॥

भगवति भवभीतिध्वंसकारिण्यमोघे
भवतु भवतु भक्तिर्जन्म जन्मान्तरेऽपि ।
भवतु भवतु धर्म्मः सर्वथा मेऽनुशास्ता
भवतु भवतु सङ्घोऽनुत्तरा पुण्यभूमिः ॥ १०५ ॥

निश्चयात्मक रूप से संसार भय के नाश करने वाले भगवान् बुद्ध में जन्म जन्म मेरी भक्ति हो, धर्म मेरा हर प्रकार से अनुशास्ता हो, और सङ्घ अनुत्तर पुण्यभूमि हो ॥ १०५ ॥

त्रिभुवनमहनीयं त्वामभिष्टुत्य बुद्धं
विशदतरमदभ्रं पुण्यमत्रार्जितं यत् ।
जगति सकलसत्त्वास्तेन सम्बुद्धबोधिं
विधुतविविधपापा भावनाभिर्व्रजन्तु ॥ १०६ ॥

हे तीन लोकों द्वारा पूजनीय बुद्ध ! आपकी स्तुति करके मैंने जो बहुत सा निर्मल पुण्यार्जन किया है उससे नाना प्रकार के पापों को नष्ट कर चुके, सारे जगत के प्राणी योगाभ्यास द्वारा सम्बुद्ध-बोधि को प्राप्त करें ॥ १०६ ॥

भास्वद्भानुकुलाम्बुजन्ममिहिरे राजाधिराजेश्वरे
श्रीलङ्काधिपतौ पराक्रमभुजे नीत्या महीं शासति ।
सद्गौड़ः कविभारती क्षितिसुरः श्रीरामचन्द्रः सुधीः
श्रोतॄणामकरोत् सभक्तिशतकं धर्मार्थमोक्षप्रदम् ॥१०७॥

प्रकाशमान् सूर्यकुल रूपी कमल के सूर्य राजाधिराजेश्वर श्री लङ्काधिपति पराक्रम बाहु के धर्मानुसार शासन करने के समय गौड़ देश के, कवि, बुद्धिमान् ब्राह्मन श्री रामचन्द्र भारती ने श्रोताओं के लिये धर्मार्थ मोक्ष देने वाले भक्ति-शतक की रचना की ॥ १०७॥

इति श्री शाक्यमुनेर्भगवतः सर्वज्ञस्य परमोपासकेन
गौड़देशीयेन श्री बौद्धागमचक्रवर्त्तिना भूसुरेणाचार्य्येण
महापण्डितेन(रामचंद्रेण)विरचितं भक्तिशतकंसमाप्तम्१०

श्री शाक्य मुनि भगवान् सर्वज्ञ के परमोपासक गौड़ देशीय श्री बौद्धागमचक्रवर्ती आचार्य्य महापण्डित ब्राह्मण रामचंद्र द्वारा विरचित भक्ति-शतक समाप्त ॥ १०८ ॥